27 सामाजिक विज्ञान – जीवन के लिए एक स्प्रिंगबोर्ड

ऋचा भावनम



'समाजशास्त्र' और 'मनोविज्ञान'. इन दो शब्दों के साथ मेरा नाता तब से ही आकर्षण और सम्मोहन से भरा रहा है, जब मुझे उनके बारे में बहुत धुन्धला–सा ही ज्ञान था। दरअसल, समाज के बारे में, लोगों के बारे में तथा उनके दिमागों, भावनाओं और प्रतिक्रियाओं (यह सब कुछ/समूचा ही!) के बारे में अध्ययन करने का ख्याल काफी बेतुका सा है। अपने जीवन के प्रारम्भिक 16 वर्षों तक अँग्रेजी और गणित जैसे विषय पढ़ने के बाद, ये सारे टॉपिक (विषय–प्रसंग) बिखरे हुए व अव्यवस्थित लगे, और कुल मिलाकर किसी एक निर्धारित ढाँचे के माध्यम से देखे जा सकने लायक तो बिलकुल नहीं लगे। हमारे आचरणों और हमारी भावनाओं को कुछ खास सिद्धान्तों और नियमों के द्वारा कैसे समझाया जा सकता है? सच में, नहीं समझाया जा सकता। और जैसा कि मैंने बाद में जाना कि सामाजिक विज्ञान की प्रकृति एकरूपी चट्टान जैसी नहीं होती; क्योंकि उनमें सिर्फ किसी अकेले ऐसे सिद्धान्त का उपयोग नहीं किया जाता जिससे उस कार्यक्षेत्र के सभी लोग सहमत हों और उसका अनुसरण करते हों। सभी के अपने–अपने मत, विचार, प्रश्न और उत्तर होते हैं। सम्भवतः यही वह कारण है कि समाजशास्त्र और मनोविज्ञान, दोनों में ढ़ेर सारे अलग–अलग पहलू समाहित रहते हैं और मेरे लिए यही बहुआयामी प्रकृति सामाजिक विज्ञानों की खूबसूरतियों में से एक है।

इन विषयों की एक और बहुत आकर्षक खूबी थी कि किसी न किसी तरह, इन विषयों का काफी कुछ लेना–देना मनुष्यों के रूप में 'हम' से तथा लोगों के रूप में बस 'आप' से और 'मुझसे' होता है। मुझे मानव जाति के तथा खुद के बारे में और जानने की सनक रही है; और अगर मैं थोड़े निर्णायक ढंग से सोचूँ, तो मुझे लगता है कि हम सभी को किसी न किसी तल पर यह सनक रहती है भले ही वह अलग–अलग हद तक हो। ये दो विषय उस सनक की पूर्ति करते मालूम पड़ते हैं। ऐसा लगता है कि उनमें कोई निजी तत्व है, ऐसा कुछ जो सीधे इस बात से ताल्लुक रखता है कि हम कौन हैं और क्या हैं। चाहे प्रत्यक्ष रूप से हो या परोक्ष रूप से, हम खुद को ही पढ़ रहे थे। विषयों के रूप में खुद को ही पढ़ना और अतीत की ओर देखना – यही वे बातें थीं जिन्होंने मुझे सामाजिक विज्ञान पढ़ने की ओर खींचा।

तकरीबन पिछले दो सालों से मेरे जीवन का काफी बड़ा हिस्सा समाजशास्त्र और मनोविज्ञान में ही बीता है। हालाँकि, मेरी यात्रा तो एक उत्साही 16 वर्षीय लड़की के रूप में शुरू हो गई थी जो इन दो विषयों को लेकर बेहद रोमांचित थी। मुझे कुछ खास अन्दाजा नहीं

> *सामान्यतः किसी भी मुद्दे या घटना को इनमें से सिर्फ किसी एक नजरिए से देखने पर समझा या समझाया नहीं जा सकता। क्योंकि हमेशा ही कोई दूसरा नजरिया ऐसा होगा जिसके अपने सकारात्मक पहलू होंगे और वह भी उतना ही विश्वसनीय लगेगा जितना कि पहला वाला।*

था कि इन दो विषयों की पढ़ाई में क्या–क्या शामिल होगा। मुझे लगा कि हममें से प्रत्येक को एक खास ढंग से सोचने के लिए ढाला गया था। चाहे अचेतन रूप से हो या सचेतन, मेरे अनुभव में यह ढाला जाना महत्वपूर्ण साबित हुआ है – मुख्यतः तो इन विषयों को समझने में, और फिर अपने विचारों को इस बुनियादी समझ से आगे जाने देने के लिए, और इस प्रकार विभिन्न प्रसंगों के बारे में अपने अभिमत और विचार निर्मित करने के लिए। यह प्रक्रिया एक कक्षा में शुरू हुई हालाँकि मुझे इसका स्पष्ट भान नहीं था। इस प्रकार की सोच जो कक्षा में प्रारम्भ हुई, शुरुआत में कुछ ऐसी थी मानो विभिन्न मुद्दों को अलग ढंग से देखने के लिए मैं एक झरोखे में से झाँक रही थी; गहराई से सोचना, बातों को भिन्न रोशनियों के माध्यम से देखना, चीजों को अलग चश्मों से देखना, और सबसे महत्वपूर्ण बात, यह समझना कि किसी भी बात को लेकर हमेशा ही बहुत सारे दृष्टिकोण और नजरिए होते हैं, और उन सभी के अपने मजबूत पक्ष और कमजोर पक्ष होते हैं। सामान्यतः किसी भी मुद्दे या घटना को इनमें से सिर्फ किसी एक नजरिए से देखने पर समझा या समझाया नहीं जा सकता। क्योंकि हमेशा ही कोई दूसरा नजरिया ऐसा होगा जिसके अपने सकारात्मक पहलू होंगे और वह भी उतना ही विश्वसनीय लगेगा जितना कि पहला वाला।

धीरे–धीरे, यह दृष्टिकोण मेरी जिन्दगी के अन्य हिस्सों में भी प्रवेश कर गया। मैंने अपने चारों ओर की दुनिया को इस दृष्टिकोण के माध्यम से देखना शुरू कर दिया। सड़क किनारे बसी झुग्गियाँ, गगनचुम्बी इमारतें, सब्जी का वह ठेला धकाती सब्जी वाली जिस पर उसका बच्चा भी बैठा है, तड़क–भड़क वाले मॉल; मैं इस जगत को उसके तमाम विरोधाभासों के बावजूद थोड़ा–बहुत समझने लगी थी। जल्दी ही, मैंने इस दृष्टिकोण के जरिए ऐसी बातों को देखना

शुरू किया जो मेरे दिल के ज्यादा करीब हैं – घर के कुछ पहलू जिनको मैं हमेशा बिना कोई सवाल उठाए स्वीकार करती आई थी, जैसे कि पितृसत्तात्मक ताकतें, अब मुझे उभर कर अपने सामने दिखने देने लगे थे। पुरुष–प्रधान ढाँचा ऐसा ही एक उदाहरण है। 'गृहणी' की पारम्परिक भूमिका (जो मेरी राय में बहुत मेहनत का काम है) हमेशा मेरी माँ ने ही निभाई है, और मेरे पिता, जैसी कि परम्परा है, परिवार के आर्थिक स्तम्भ– धन– सम्बन्धी मसलों के प्रभारी व्यक्ति – रहे हैं। यहाँ तक कि रिश्ते–नाते और मेरी व्यक्तिगत जिन्दगी से जुड़े अन्य मुद्दे भी तब जीवन्त हो उठे जब मैंने अपने खुद के वैचारिक ढाँचे के माध्यम से उन्हें देखना शुरू किया। इससे मुझे यह समझने में मदद मिली कि किसी भी कहानी के कई पहलू होते हैं। उदाहरण के लिए, अपने तमाम द्वन्दों और असुरक्षाओं से भरे किशोरावस्था के वर्षों के बवण्डर उस वक्त एक सही परिप्रेक्ष्य में आ जाते हैं जब आप दूसरे व्यक्ति के नजरिए से बात को समझते हैं, और अपने मन में यह विचार करते हैं कि वह भी आपके जैसा/जैसी ही है, और उसकी परिस्थिति में रख दिए जाने पर आप भी सम्भवतः वैसा ही बर्ताव करेंगे।

कक्षा के भीतर और बाहर मुझे मिले अनुभव इस प्रकार के नजरिए को मजबूत बनाने के लिए जिम्मेदार रहे हैं।

कक्षा में गुजारा गया मेरा समय बहुत मूल्यवान रहा है क्योंकि मेरे ज्ञानकोष का आधार वहीं निर्मित हुआ। वहीं पर ऐसे कई विचारों के बीज बोए गए जिनमें आगे जाकर बहुत फलने–फूलने की सम्भावना छिपी हुई थी। यही वह जगह थी जहाँ मैंने सामाजिक विज्ञानों की भूमि में अपनी जड़ें जमाईं। यह बात दिमाग में आ सकती है कि कक्षा के दौरान ऐसा क्या होता है जो विषय के साथ इस तरह के सम्बन्ध की गुंजाइश बनाता है। निश्चित ही, हम वहाँ अपने विषयों की बुनियादी बातें तो सीखते ही हैं। समाजशास्त्र के मामले में, मार्क्सवाद, नारीवाद, संरचनावाद (फन्क्शनलिज़्म), मानवीय पारस्परिक व्यवहारवाद (इन्टरैक्शनिज़्म), धर्म, अपराध, संचार माध्यम, परिवार, सभी कुछ! पढ़ाई में शामिल रहता है। मनोविज्ञान का क्षेत्र अपने अत्यंत रोचक अध्ययनों, विभिन्न प्रकार के विकारों और उनके उपचारों के साथ एक पूर्णतः अलग दुनिया है। पर, हमारी कक्षाएँ पाठ्यपुस्तकों से समाजशास्त्र व मनोविज्ञान की पढ़ाई करने के ढंग से काफी आगे चली गई हैं। हमारे वार्तालाप, चर्चाएँ और गरमागरम बहसें, इन सभी विशेषताओं से कक्षा का मिजाज बिलकुल जुदा हो जाता है। उदाहरण के लिए, समाजशास्त्र की कक्षा में हम एक बार 'सामाजिक रचनाओं' के बारे में चर्चा कर रहे थे। अगर आप इस पद से अपरिचित हों तो मैं बता दूँ कि यह पद समाज के उन पहलुओं का हवाला देता है जो जीवविज्ञान या प्रकृति की रचना होने के बजाय हमारे द्वारा गढ़े गए होते हैं। समाजशास्त्र में कुछ तर्क ऐसे हैं जिनका यह मानना है कि ये सामाजिक रचनाएँ समाज के अन्दर एक ढाँचे का निर्माण कर देती हैं और फिर यह ढाँचा हममें से प्रत्येक के सोचने तथा जीवन जीने के ढंग को प्रभावित करता है। प्रेम इसका एक उदाहरण है – क्या आप मान सकते हैं कि प्रेम बनाया हुआ या गढ़ा हुआ हो सकता है? वे कहते हैं कि प्रेम वास्तविक नहीं होता! फिर भी हम सब लोग प्रेम के अहसास को इतने सशक्त ढंग से महसूस कर पाते हैं – दिल का धक–धक करके भागना, उस एक खास व्यक्ति के बारे में आपके दिमाग का लगातार बतियाते रहना, और बेहद स्वाभाविक व वास्तविक प्रतीत होने वाला आकर्षण। यह सिद्धान्त कहता है कि एक खास तरह के सामाजिक अनुकूलन के कारण ही हम प्रेम जैसी भावनाओं को महसूस करते हैं। जब इस तरह के प्रश्न पूछे जाते हैं कि 'ऐसा क्यों है कि हममें से अधिकांश उच्च–मध्यम वर्ग के लोगों का प्रेम ऐसी ही पृष्ठभूमि वाले अन्य लोगों से हो जाता है', तो इसका उत्तर देते समय मन की स्थिति विस्मित और कभी–कभी तो भयभीत भी हो जाती है।

हमारे मनोविज्ञान की कक्षाओं में एक और बेहद दिलचस्प प्रसंग उभरा – हम लोग विभाजित मस्तिष्क के ऐसे रोगियों के बारे में एक शोधपत्र का अध्ययन कर रहे थे जिनकी कॉर्पस कैलोसम (मस्तिष्क के दो भागों को जोड़ने वाली पट्टी) की शल्यक्रिया इस तरह हुई थी कि दोनों भागों में कोई जुड़ाव नहीं रह गया था। ऐसी शल्य–प्रक्रिया उन लोगों पर की जाती है जिनकी मिरगी इतनी गम्भीर हो चुकी होती है कि वे निष्क्रिय हो जाते हैं। इस अध्ययन के नतीजों ने यह दर्शाया कि एक व्यक्ति में चेतना के दो तल मौजूद थे। मस्तिष्क के बाएँ और दाएँ भाग, दोनों अपनी–अपनी भिन्न जिन्दगियाँ जी रहे थे, और उनकी अपनी अलग–अलग स्मृतियाँ थीं और अभिव्यक्ति के अपने ढंग थे। इस बात का व्यापकीकरण करते हुए हम खुद से यह पूछ सकते हैं कि क्या हमारे भीतर भी चेतना के दो तल होते हैं? असली मैं कौन है? इस तरह के प्रश्नों से कक्षा में एक जीवन्त चर्चा छिड़ जाती थी जिससे और गहरी खोज करने का वातावरण निर्मित होता था। इस तरह की गतिशीलता, आपको अपने बारे में और अपने चारों ओर की दुनिया के बारे में सोचने पर मजबूर करती है, और हमारी रोजमर्रा के जीवन में इन विषयों की प्रासंगिकता की ओर भी इशारा करती है। आत्म–चिन्तन और समीक्षात्मक सोच इन कक्षाओं की सामान्य गतिविधियाँ, या शायद उनका मानक स्वरूप, बन जाते हैं।

इस प्रकार का वातावरण एक स्प्रिंगबोर्ड की तरह काम करता है जिससे छलांग लगाकर मैं अपनी रुचि के अन्य क्षेत्रों के भीतर भी प्रवेश कर सकती हूँ। समाजशास्त्र और मनोविज्ञान, दोनों पढ़ने का एक लाभ यह है कि मुझे बस अपनी खिड़की से बाहर देखना होता

है और संसार रूपी मेरी प्रयोगशाला बिलकुल सामने होती है – कम से कम इस सीमा तक तो वह इस रूप में काम करती है कि वह प्रेक्षण, और कभी–कभी पारस्परिक क्रियाकलाप द्वारा जानकारी हासिल करने की सुविधा देती है।

> *सामाजिक विज्ञानों से मुझमें तो निश्चित ही संवेदनशीलता आई है। जब मैं अपने आसपास देखती हूँ, तो मुझे हर तरह की पृष्ठभूमियों वाले लोग दिखाई देते हैं, और सतही ढंग से देखने पर तो उन सबमें जमीन–आसमान का अन्तर दिखाई देता है। और शायद उनके बीच बहुत अन्तर है भी। पर सामाजिक विज्ञानों ने मेरा उनको देखने का नजरिया बदल दिया है और इस तथ्य को मेरे मन में और मजबूती से स्थापित किया है कि हम सभी मनुष्य हैं।*

हम अपने स्कूल की ओर से एक अध्ययन यात्रा के लिए बंगलौर की एक झुग्गी बस्ती में गए। हमने वहाँ रह रहे घरों पर काम करने वाले श्रमिक वर्ग के लोगों से बातें कीं। मेरे लिए यह देखना बड़ा ही दिलचस्प था कि चाय की प्याली के साथ कुछ ही मिनटों में हमारे दरमियान 'हम' और 'वे' वाली दीवारें गिर गईं। उनकी जिन्दगियाँ, कहानियाँ, समस्याएँ अचानक ही हमारी जिन्दगियों से एकदम जुदा किसी दूसरी दुनिया की बातें नहीं रह गई थीं, बल्कि वे ऐसी बातें हो गई थीं जिनसे मैं खुद को जोड़ सकती थी और उनके जैसा ही महसूस कर सकती थी। फूल बेचने वाली से उसका नाम और उसके बच्चों के बारे में पूछना, या रिक्शावाले की उसके रेडियो सेट के लिए तारीफ कर देने के लिए किसी रिश्ते का होना जरूरी नही था – यह देखना अद्भुत था कि उनके साथ वार्तालाप का सम्बन्ध बनाने में हमें बिलकुल भी कठिनाई नहीं हुई।

सामाजिक विज्ञान लोगों की इस ढंग से 'खुलने' में मदद करते हैं, मुझमें तो निश्चित ही इससे संवेदनशीलता आई है। जब मैं अपने आसपास देखती हूँ, तो मुझे हर तरह की पृष्ठभूमियों वाले लोग दिखाई देते हैं, और सतही ढंग से देखने पर तो उन सबमें जमीन–आसमान का अन्तर दिखाई देता है। और शायद उनके बीच बहुत अन्तर है भी। पर सामाजिक विज्ञानों ने मेरा उनको देखने का नजरिया बदल दिया है और इस तथ्य को मेरे मन में और मजबूती से स्थापित किया है कि हम सभी मनुष्य हैं। आखिर में तो हम सब समान ही हैं। जब आप जीवन में इस प्रकार का नजरिया अपना लेते हैं तो अमीर–गरीब, हिन्दू–मुस्लिम, भारतीय–पाकिस्तानी, गोरा–काला जैसे भेद अर्थहीन लगने लगते हैं।

समाजशास्त्र और मनोविज्ञान में अपनी ए–लेवल पढ़ाई के अन्त की तरफ जाते हुए, और पिछले दो विचित्र वर्षों के बारे में चिन्तन करते हुए, मैं यह कह सकती हूँ कि ये दो विषय पढ़ना मेरे लिए बहुत आनन्ददायी अनुभव रहा है। मेरी राजमर्रा की जिन्दगी में इन विषयों का योगदान, हमारे नगरों की गहमागहमी में उनकी उपस्थिति, और इन विषयों के भीतर मौजूद जीवन ने मेरे अनुभव को वाकई रंग–बिरंगा बना दिया है। इस विषय से मुझे मिली सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि मैं सहज रूप से बहुत संवेदनशील हो गई हूँ, और मुझे मनुष्य के स्वभाव की बारीकियों को समझने में मदद मिली है। मुझे कॉलेज में सामाजिक विज्ञानों को पढ़ने का इन्तजार है।

ऋचा भावनम *बंगलौर के एक वैकल्पिक स्कूल, सेन्टर फॉर लर्निंग, में 12वीं कक्षा की छात्रा हैं, जहाँ वे समाजशास्त्र व मनोविज्ञान में ए–लेवल पढ़ाई कर रही हैं। उनकी अन्य रुचियाँ हैं फोटोग्राफी, मिट्टी के बरतन तैयार करना, वन्यजीवन, लिखना और भ्रमण करना। यह पहला मौका है जब उनके लेखन को किसी संचार माध्यम में जगह मिल रही है। उनसे इस richa.bhavanam@gmail.com ईमेल पते पर सम्पर्क किया जा सकता है।*